अध्याय दूसरा

अभिनय स्वरूप निर्धारण और अंग।

[१] "अभिनय कला" उगम या उत्पत्ती :-

रघुवर दयाल वार्ष्णेय "अभिनय कला" के संबंध में लिखते हैं - "अभिनय नाटक का सर्वप्रमुख तत्व है। कहा जाता है कि, अभिनय का प्रारंभ सृष्टि के साथ हुआ। अपनी प्रारंभावस्था में जब मनुष्य का संपर्क प्रजनन क्रिया से हुआ और जब उसने मैथुनिक रहस्यों की क्रियाओं को पूरी तरह से जान लिया तब उसका औत्सुक्य मैथुन के प्रति बढ़ता गया। इन मैथुनिक क्रियाओं की भावनात्मक अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करने के लिए विशेष बिंबों और प्रतिकों का निर्माण किया गया। यह प्रतिक और संकेत उसके पारम्पारीक संबंधों की स्थापना करने में सुविधाजनक सिध्द हुए और इन्ही आधारपर कला का निर्माण हुआ।"[१] रमेश राजहंस लिखते हैं - "अभिनय प्रवृत्तिमूलक कला है। अनजाने ही लोग जीवनमें पग-पग पर अभिनय करते रहते हैं। आप किन्ही दो लोगों को आपस में बातें करते समय जरा गौर से देखिए, खासकर उनकी बातों के साथ-साथ उनके हाव-भाव पर ध्यान रखिए, आप देखेंगे कि वे अपनी बातों के अभिप्राय को सही प्रभाव के साथ एक दूसरे को संप्रेषित करने के लिए अपनी आवाजों के चढाव,उतार, हास्य संचालन, मुख भंगिमा के सूक्ष्म परिवर्तन आदि का निरंतर सहारा लेते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि मनुष्य अनुभव से जानता है कि, सपाट वाचिक या लिखित भाषा अधूरी है। उसके इस अधूरेपन को पूरा करने के लिए आंगिक भाषा का प्रयोग जरूरी है।"[२]

अर्थात यह स्पष्ठ हो जाता है कि मनुष्य जन्मसे अभिनेता होता है। सिर्फ उसे अभिनय के गुणोंका उत्कर्ष करना आवश्यक हैं।

हम देखते हैं कि कभी कभी छोटे-छोटे बच्चे कभी-कभी बहुत सुंदर रोने का अभिनय करते हैं क्योंकि उन्हे मालूम होता है कि रोने का अभिनय करनेसे उन्हे "दूध" मिलता है। हर एक मनुष्य अपनी शैशवावस्था में "भातुकली" का खेल खेला करता है तब छोटा बच्चा कभी राजा बनता है, कभी नौकर , तो छोटी बच्ची कभी रानी बनती है तो कभी माँ, तो

...

कभी नोकरानी। जब वह "माँ" बनती है तब वह अपनी गुडियापर खूब प्यार करती है, जिसप्रकार उस बच्चीकी माँ उस बच्ची को नहाती है, उसप्रकार वह भी अपनी गुडियाँ को नहाती है, उसे साबून लगाती है, उसे पालने में झुलाती है, और उससमय उस बच्ची का यह जिक्र होता है कि वहाँ से जाते समय चपलों की भी आवाज वह नहीं करने देती। कभी-कभी वह बच्ची कहती भी है कि -" देखो। यहाँ आवाज मत करो। मेरी गुडियाँ सो रही है।" अर्थात इस प्रसंग में वह बच्ची "माँ" का एक तरहसे अभिनय करती दिखाई देती है।

इसप्रकार "ये नन्हें-मुन्हें बच्चें जब युवा हो जाते हैं तो मात्र अपने खेल के साथीयों तक ही वे अपनी अभिव्यक्ति प्रक्रिया को सिमित नहीं रखना चाहते। सिर्फ खेल के अभिनयात्मक पहलू से अब उन्हे संतोष नहीं मिलता, वे खुद का विस्तार और अपने व्यक्तित्व कि निजि पहचान कायम करना चाहते है। वे मंचीय अभिनय की ओर प्रवृत्त होते हैं।"[3] अर्थात अभिनय कोई ऐसा दैवी गुण नहीं है और न ही कोई ऐसी कुछ विशिष्ठ और आलग-सा मानवीय-अनुभव है। अभिनय तो हररोज के अनेक छोटे-छोटे अनुभव, भावविशेष, क्रिया-प्रतिक्रिया और आशा निराशा से अटूट संबंध रखनेवाला होता है। इसीकारण से अर्थात "गंभीर अभिनय से जिंदगी की समझ बढती है, लोगों के व्यवहार और मानसिकता की परतें खुलती है।"[4] साथही जीवन जीने की कला से जुड जाता है। वैसे देखा जाय तो लोग स्वभावसे अभिनेता होते हैं, सिर्फ जो अपनी कुशाग्र बुध्दी और मेहनत के बलबूतेपर अभिनय की सूक्ष्मता को जान लेता है वह अच्छे अभिनेता के रूपमें उभर आता है।

[२] अभिनय की परिभाषाएँ :-

[अ] अंग्रेजी विद्वानों की परिभाषाएँ

१. जान बॅरी मूत अमिरिका के एक प्रख्यात नाट्याचार्य है उनका अभिनय के संबंध में विचार है कि - "अभिनय कला" रंगमंचपर सत्य का आभास निर्माण करने की कला है। यह आभास निर्माण करते समय रंगमंचपर क्रिया व्यापार करनेवाले पात्र, प्रत्येक शब्द बोलतेसमय, प्रत्येक क्रिया करते समय परिस्थिति को ध्यान में रखो हुए परिस्थिति के अनुरूप ही बोलना या करना आवश्यक है। वे जो बोलते हैं वही करते हैं, उनके क्रिया-व्यापार में जो भी प्रस्तुत हो रहा है वही सत्य हो रहा है। और मैं "मैं" नहीं तो जिसका "अभिनय" अभिनित कर रहे हैं "वह" है, ऐसा विश्वास दिखाई देना आवश्यक

है और विशेषत: रंगमंचपर निर्मित प्रसंग प्रथम बार ही प्रस्तुत हो रहा हो तो उससमय "अभिनय कला" की कसौटी लगती है। क्योंकि कार्यव्यापार की सहजता ही कला का प्राण है।"[५]

२. सर हेन्री अर्विंग कहते हैं, "नाटककार द्वारा निर्मित काल्पनिक व्यक्तियों को शारीरबध्द करना और उनके दिल की उच्छृंखलता जनमानस तक पहुँचाना अभिनय-कला की जिम्मेदारी है।"[६]

३. लारेट टेलर के अनुसार, "मन मानस में निर्मित व्यक्तियों का जैसा का वैसा शारीरिक चित्रण करना और उनका चित्रण करतेसमय अपने भावविश्वमें उठे तरंगों को दर्शकों तक पहुँचाना "अभिनय" है।"[७]

[ब] 'संस्कृत विद्वानों की परिभाषाएं'

१. अभिनय शाब्द की व्युत्पति करते हुए नाटयशास्त्र में लिखा गया है कि "अभि" उपसर्ग से प्रपणार्थक "णीञ्" धातुसे अच योजित होनेपर अभिनय शाब्द निष्पन्न होता है। आगे लिखा गया है कि - जिसके सांगोपांग प्रयोग द्वारा, नाटय के अनेक अर्थों का श्रोता या सामाजिक को -हदय से विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे अभिनय कहते हैं।[८]

२. कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पन के छटे परिच्छेद के आरंभ में दृश्यकाव्य का निरूपन करते हुए अभिनय पर भी विचार किया है। "उन्होने दृश्यकाव्य को अभिनय और अभिनेय काव्य को रूपक कहा है। उन्होने यह स्विकार किया है कि चाहे नाटयरूप वस्तुदृश्य हो, अभिनेय हो या रूपक हो - बिना अभिनय के संभव नहीं है। अभिनय को उन्होने अवस्थानुकार कहा है - "भवेदभिनयोऽवस्थानुकार:" जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन तथा वाणीसे अभिनेय चरित की अवस्थाओं का अनुकरण [अनुकार] किया जाता है। नट द्वारा शरीर, मन तथा वाणीसे रंगमंचपर राम युधिष्ठिर आदि पात्रो की अवस्थाओं का अनुकरण ही अभिनय है।"[९]

३. तो कुछ विद्वान "वीज धातु और "अभि" उपसर्ग के योगसे ही अभिनय शाब्द का निर्माण हुआ है ऐसा मानते है। इसका व्युत्पतिलाभ अर्थ है "अभिनीयते इति अभिनय" अर्थात साक्षात्कारात्मक रूपसे नाटकीय कार्यव्यापार को दर्शकों तक पहुँचाना अभिनय कहलाता है।"[१०]

[क] हिन्दी के विद्वानों की परिभाषाएँ

१. डॉ. दशरथ ओझा के अनुसार, "अभिपूर्वक" नी धातुमें अच प्रत्यय के योग से "अभिनय" शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है -हृदय के भावों को प्रकाशीत करनेवाली आंगिकचेष्ठा। स्पष्टत: बाह्य चेष्ठाओं के साथ-साथ -हृदयस्थ भावों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति भी अभिनय द्वारा अभीष्ठ है।"[११]

२. मराठी के प्रख्यात नाट्याचार्य प्रा. यशवंत केळकर जी अभिनय की परिभाषा लिखते हैं -"नाटककार के नाटक को दर्शक तक पहुँचाने का कार्य याने अभिनय।"[१२]

३. जीवनप्रकाश जोशी अभिनय को स्पष्ठ करते हुए कहते हैं - "किसी नाट्यकृति का जन साधारण के सामने कलात्मक प्रस्तुतीकरण उसका "अभिनय" कहलाता है।"[१३]

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों एवं परिभाषाओं को सामने रखते हुए हम अभिनय की परिभाषा इसप्रकार कर सकते हैं कि, -"नाटककार अपने मन-मानसमें उठे विचारों को शाब्दबध्द करता है तथा उन विचारों के अनुरूप व्यक्तियों की कल्पना भी करता है। अत: उन विचारों एवं व्यक्तियों को शरीर के विभिन्न अवयवों की सहाय्यता से दर्शक तक पहुँचाना "अभिनय" है।"

[३] "अभिनय" का भारतीय स्वरूप :-

भारत के प्राचीन नाट्यग्रंथों में अभिनय के संबंध में सूक्ष्मता से विचार विनिमय किया हुआ दिखाई देता है। विशेष रूप से भरतमुनि द्वारा रचित "नाट्यशास्त्र" तो अभिनय के लिए साक्षात समर्पित ग्रंथ है। भरतमुनि ने अपने ग्रंथों में संसार के सभी प्रकार के अभिनय को चार प्रकारों में विभाजित करके इन चार प्रकारों के एकत्रीकरण को अभिनय की सार्थकता मानी है।

भरतमुनि द्वारा निर्देशीत अभिनय के निम्नलिखित प्रकार है।

१] आंगिक अभिनय।

२] वाचिक अभिनय।

३] सात्त्विक अभिनय।

४] आहार्य अभिनय।

* आंगिक अभिनय *

"आंगिक अभिनय" का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्ठाओं से कोई भाव या अर्थ

प्रकट करना., सिर, कटी, वक्ष, पार्श्व और चरण के द्वारा किया जानेवाला अभिनय शरीर या अंगाभिनय कहलाता है।"[१४] आँख, भौंह, नाक, अधर, अपोल, टोड़ी के द्वारा किया हुआ अभिनय मुखज या उपांगाभिनय कहलता है। जिसमें पूरे शरीर की विशेष चेष्ठाएँ दिखाना, उसे चेष्ठाकृत अभिनय कहलाते है। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेषरस, भाव तथा संचारी भाव के अनुसार किये जाते हैं।"[१५]

इसके अतिरिक्त भरतने "दस आकाशमंडल और दस गान मंडल के अभिनयों का परिचय देकर गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि कौन सी भूमिका ग्रहण करनेवाले व्यक्ति को किस प्रकारसे मंचपर चलना चाहिए। किस रसमें अभिनेता की कैसी गति होनी चाहिए तथा अभिनय किस गति से करना चाहिए और आसन या बैठने की क्या रीति है यह भी भरत ने विस्तार से समझाया है।"[१६]

* वाचिक अभिनय *

रंगमंचपर अभिनेता को लेखक के विचारों को दर्शकों तक पहुँचाने के लिए बोलना तो आवश्यक है। अर्थात जब अभिनेता अपने मुखसे जो कुछ कहता है वह सबका सब वाचिक अभिनय ही कहलाता है।

नाटक छोड़कर साहित्य के अन्य प्रकारों में अन्येतर प्राणीयों की और कृत्रीम साधनों के आवाजों का वर्णन किया हुआ दिखाई देता है। परंतु नाटक एक साहित्य का दृश्य-श्राव्य प्रकार है जैसे., चिड़ियों की बोली बोलना, मुँह से सीटी की ध्वनि निकालना या जानवरों को हाँकते हुए चटकारी देना आदि सिर्फ वर्णन ही नहीं, प्रयोग करना पड़ता है। इसप्रकार के मुखसे निकली हुई ध्वनियाँ वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आती है। "भरत ने वाचिक अभिनय के लिए तिरसठ लक्षणों और उनके गुणदोषों का भी विस्तारसे विवेचन किया है।"[१७] "वाचिक अभिनय" का सबसे बडा गुण है - वाणी के आरोह, अवरोह के द्वारा कहा हुआ वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाये रखे।"[१८]

संस्कृत के शिक्षा ग्रंथों में वाचन का विधान करते हुए कहा गया है कि - जिस-प्रकार बाघिन अपने बच्चों को मुँह में लेकर चलती है तब, न तो बच्चों को दांत चुबते है और न वे मुँह से गिरते है उसीप्रकार वाक्य के शब्दों का उच्चारण करना आवश्यक है। अर्थात शब्द मुँह में न रहें सबके समझ में आए। उसीप्रकार वाक्य के शब्द मुँह

13376
A

फैलाकर न बोले जाय जिससे वह शब्द एक दुसरे से सटकर, टुटे हुए सुनाई दे। एक बात ध्यान देनेकी है। कि असल व्यवहार में भी हम, "अच्छा और हा" जैसे शब्द प्रसंग के अनुसही उच्चारते है ।

अर्थात नाटको में शब्दों का उच्चारण इतनी सहजता से होना चाहिए कि यदि कोई पात्र परदे के पिछेसे भी बोले तो उसकी भाव भंगिमा का ज्ञान दर्शक को होना चाहिए।

निष्कर्षत: गंभीर, उदात्त अभिनेता को सदा स्पष्ठ शुध्द और भाव के अनुसार शब्दो को उतार-चढाकर बोलना नितांत आवश्यक है। अन्यप्रकार के पात्रों को अपनी प्रकृति के अनुसार अर्थात बालक, वृध्द, रोगी,मरणासन्नव्यक्ति,क्रोधि आदि जिन शारीरिक और मानसिक दशाओं का अभिनय करना है। उनके अनुसार अपनी वाणी उदात्त, अनुदात्त, स्वरीत और कम्पित बना लेना चाहिए। कभी-कभी अभिनेता को अन्य जीवों, वादयों आदि का भी मौखिक अनुकरन करना पड़ता है, वहाँ उसी प्रकार की ध्वनि निकालनी चाहिए।"[१९ ५]

* सात्त्विक अभिनय *

भरतने आंगिक अभिनय का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है फिर भी उन्होने सामान्य अभिनय के सब रूपो में सात्त्विक अभिनय को ही प्रधान बताते हुए कहा है कि,जिस अभिनय में सात्त्विक अभिनय कीअधिकता होती है वह जेष्ठ कहलाता है, जिसमें सात्त्विक भी अन्य अभिनयों के समान ही होता है वह मध्यम कहलाता है, जिसमें सात्त्विक अभिनय नहीं होता वह अभिनय अधम कहलाता है।"[२०]

सात्त्विक भाव अव्यक्त होता है अर्थात उसे शब्दों के जरिए प्रस्तुत करने नहीं आता वह तो भावपर आश्रित होता है - सात्त्विक भाव कुल मिलकर है, रोमांच, अश्रू, प्रलय, कम्प, वैवर्ण्य, स्तंभ, स्वेद, स्वरभंग आदि। भानुदत्तने "जृम्भा" [जंभाई] को भी इनमें सम्मिलित किया है।

"इसप्रसंग में आश्रय की चेष्ठाएं अनुभाव कहलाती है। हमारे ये अंग विकार हमारे -हदय में स्थित भावदशा को बाहर प्रकट कर देते हैं, अत: इन्हे भावो का अभिनय मानकर "सात्त्विक अभिनय" की संज्ञा दी है।"[२१]

उपरोक्त सात्त्विक अभिनय के प्रकारों को देखनेपर यह निश्चित हो जाता है कि

सात्त्विक अभिनय कोई बताने या सिखने की बात नहीं है। यह तो अभिनेता या अभिनेत्री स्वयं अपने अनुभव और अपनी भूमिका से तन्मयता प्राप्तकरके ही जाना जा सकता है।

* आहार्य अभिनय *

"आहार्य अभिनय" वास्तवमें अभिनय का अंग न होकर नेपथ्य कर्म का अंग है और उसका संबंध अभिनेता से उतना नहीं है जितना नेपथ्यसज्जा करनेवाले से।"[२२] किन्तु हर प्रकार का आहार्य अभिनय अभिनेता के वेश का ही होता है जहाँ अभिनेता रंगमंच पर ही वेश, रूप या आकृति बदलता है।"[२३]

आहार्य अभिनय के संबंध में डॉ. बाबासाहेब पोवार का विचार है - "वास्तव में वर्तमान युग में आहार्य अभिनय जैसे अभिनय प्रकार का स्वतंत्र रूपसे उल्लेख आवश्यक नहीं है, भले ही अभिनय जैसे अभिनय से संबंधित क्रिया कलापो में इसका संबंध जुडा हो।"[२४] परंतु फिर भी आज व्यापक रूपसे यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक अभिनेता को अपना मुखराग और अपनी शरीर-सज्जा स्वयं आपने आप करनी चाहिए और इसीलिए प्रत्येक अभिनेता को आहार्य अभिनय का ज्ञान होना आवश्यक है।

[४] अभिनय के गुण :-

"अभिनव दर्पण में अभिनय के चार गुणोंका उल्लेख किया हुआ दिखाई देता है।"[२५]

१. अनुकरण नैपुण्य।
२. दृश्य सौष्ठव।
३. श्रुति माधुर्य।
४. परिहास।

* अनुकरण-नैपुण्य *

अनुकरण तो मानव की प्राकृतिक प्रवृत्ति है। हम देखते हैं, छोटे-छोटे बच्चे जब गुड्डा-गुडियों का खेल खेला करतें हैं तब वे अपने माँ-बाप का ही अनुकरण किया करतें हैं। अर्थात मनुष्य जब अपनी बौध्दीकता की महसूसी करने लगता है उसी क्षण से वह अनुकरण करने शुरू करता है। परंतु नाटक में जब वह अनुकरण करता है तब किसी भी बात का अनुकरण जैसे की वैसे अर्थात पूर्णरूपेन स्वाभाविक दिखाई देना आवश्यक है।

नाटक में शारिरिक अनुकरण तो अत्यंत आवश्यक है ही, परंतु साथ-साथ मानसिक अनुकरण भी दिखाना आवश्यक है। उदः शोक न होते हुए भी अश्रु प्रवाहित करने पड़ते हैं तथा शोकाकुल व्यक्ति के सदृश्य अनुभाव व्यक्त करना पड़ता है।

* दृश्य सौष्ठव *

नाटक मनोरंजन का एक साधन है। अत: दर्शकों के मन में आनंद का संचार करने के लिए दृश्य सौष्ठव अनिवार्य है। अर्थात किसी नाटक में स्थित पात्र के गुणों जैसाही हुबहुब अभिनेता का व्यक्तित्व हो।परिणामस्वरूप उस अभिनेता के अभिनय को देखकर दर्शकों का चित्त प्रसन्न हो जाता है।

* श्रुतिमाधुर्य *

दृश्य सौष्ठव के होते हुए भी श्रुतिमाधुर्य के अभाव में अभिनय दर्शक को आनद प्रदान नहीं कर सकता। वाचिक अभिनय के सभी गुण तथा भाव श्रुतिमाधुर्य के लिए अपेक्षित है। अभिनेता में स्वर-संयम, शुध्द उच्चारण एवं उच्चारण की क्षमता आवश्यक है। उदात्त-अनुदात्त स्वरों में आरोह-अवरोह, वाणी में माधुर्य, धैर्य, अनुकूल स्वर, प्रसंगानुकूल स्वाभाविकता तथा कृत्रिमता एवं विकृति का अभाव अभिनय का सौंदर्य वर्धन करते है।

* परिहास *

"नाटक में दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए तथा मनोरंजन के माध्यमसे अपना सप्रेक्षित करने के लिए परिहास तथा हास्य-व्यंग्य आदि का अश्रय लिया जाता है। परिहास का शिष्ठ एवं अभिजात्य स्वरूप है, वाचिक अभिनय में व्यंग्य वक्रोक्ति तथा कुतूहल प्रधान सुचनाओं की आश्चर्यजनक परिणाति होती है। वेशभूषा की विकृति द्वारा भी सामाजिकों का मनोरंजन किया जाता है किंतु वह उतना-स्तरीय सिध्द नहीं होता है।"[२६]

[५] भारतीय अभिनय में रस का अन्यन्य साधारण महत्व :-

भारतीय नाट्यशास्त्र में सात्त्विक अभिनय के लिए तथा उसके पूष्ठयार्थ के लिए "रस" की चर्चा विश्वनाट्य साहित्य के लिए अनुपम देन है। भरतमुनिने कुल आठ रसों का विस्तार से विवेचन किया है। आठ स्थायी भाव, आठ सात्त्विक भाव एवं तैंतीस

संचारी भाव, कुल मिलकर उनचास भावों का वर्णन भरत के नाटयशास्त्र में दिखाई देता हैं। "नाटक के प्रधान रसके अनुरूप नाटक का प्रमुख स्थायी भाव रहता है। इस के अनुरूप विविध संचारी भाव गुजरते हैं। अभिनेता द्वारा स्थायी भाव के अनुभव से दर्शकों का भी रसा स्वादन होता है। विभाव का मतलब है परिस्थिति। विभाव के दो प्रकार माने जाते हैं १] आलंबन विभाव २] उद्दीपन विभाव। आलंबन विभाव का अर्थ है - चरित्र का स्वभाव विशेष। किसी विशिष्ठ स्वभाव विशेष के चरित्र के मन में कुछ विशेष नाटय परिस्थिति के अनुरूप भाव निर्माण होते है। इन भावों के अनुरूप अभिनेता क्रियाएँ करता है। इस प्रकार यदि कोई अभिनेता अभिनय करता है तो दर्शक के लिए भी रसा-स्वाद का आनंद प्राप्त होता है।"[२७]

रस विषयक विवेचन भारतीय नाटक के लिए प्राण ही माना जाता है। डॉ. अज्ञात के अनुसार "पाश्चात्य नाटक भारतीय नाटकों से "रस विवेचन" के कारण ही पृथक है। भारतीय नाटय आचार्यों द्वारा विवेचित रस चर्चा ही भारतीय नाटक का प्राण है, जो पाश्चात्य नाटकों से अपनी परम्परा को पृथक कर देती है। यूनानी नाटक मुखौटे लगाकर इसलिए किए जाते थे की, उनमें कुछ विशिष्ठ कार्य व्यापार दिखलाना ही प्रयोगता का उद्देश्य हुआ करता था। इसलिए उनकी रंगशालाएं भी बड़ी हो तो भी इसके विपरित भारतीय प्रभावता के लिए यह आवश्यक था कि, वह समस्त भाव जगत को अपने पात्रों के द्वारा मूर्त रूप दे। भारतीय प्रेक्षागृह यूनानी रंग शालाओं की तुलना में छोटे हुआ करते थे जिससे प्रत्येक सामाजिक पात्रों द्वारा प्रदर्शित सात्विक अभिनय का ही चक्षुओं द्वारा -हृदयगम कर सकें।"[२८]

[६] "भटकता भारतीय लोकमंचीय अभिनय" :-

भारतीय नाटय परंपरा संस्कृत नाटय परंपरा के बाद लगभग एक हजार सालों तक लोककलाओं के माध्यमसे ही जीवित रहा था। "यह नाटक किसी भी प्रकार के पूर्व निर्धारित आलेख के बिना ही बहुत जीवंत और आकर्षक रंगमंच चलता रहा है। इस दौर में सूत्रधार भागवत, रंगा, नायकस्वामी आदि रूपों में कोई संयोजक या निर्देशक मंडली में जरूर रहा। पर उसकी स्थिति व्यवस्थापक की अधिक होती गई। हमारे पारम्पारिक नाटय में अभिनेता ही प्रधान है और प्रदर्शन की सफलता पूरी तरह अभिनेताओं की कल्पना, सुझ-बूझ और निपुणता पर ही निर्भर रहती है।"[२९]

जब तक अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव हमारी नाट्यमंचन शैलीपर नहीं पड़ी तब तक हमारी नाट्यमंचन शैली लोक कलात्मक रही है। अनेक मंचीय तत्वों का कार्य भी हमारी नाट्य परंपरामें अभिनेता के द्वारा ही पूरी होती रही। अर्थात हमारी नाट्य मंचन शैली का प्रमुख आधारस्तंभ "अभिनेता" ही रहा है। परंतु आज पूर्वलिखित नाटकों का महत्व बढ़ता हुआ दिखाई देता है और इसीकारण नाटयकार का भी महत्व बढा हुआ दिखाई देता है। परंतु फिर भी "अभिनेता" आज भी नाटक का प्रमुख केंद्र बना है।

आज आधुनिक युग में अनेक नाट्यसंस्थाएँ पाश्चात्य नाट्य सिद्धांत का आधार ले रही है और इसीकारण आज कल अभिनेता के आलावा मंचीय तत्वोंका महत्व बढता हुआ सुनाई देता है। फिर भी अभिनेता का स्थान कम नहीं हुआ उसका महत्व आज भी है, और अधिकतर नाट्य दल में प्रमुख सुत्रधार, निर्देशाक या नाटककार अभिनेता ही रहें हैं।

"आजादी के बाद मंचीय तत्वों में ईकाई की जरूरत महसूस हुई और इनका संयोजन करनेवाला निर्देशाक अपने अस्तित्व को प्रकट करता दिखाई देता है और अधिकतर सफल निर्देशाक अभिनय से ही संबंधित रहे हैं।"[30]

निष्कर्ष: हम यह कह सकते है कि नाटककार और निर्देशाक के उपरांत अभिनेता और उसका अभिनय ही वह तत्व है जो दर्शक को आकर्षित करता है।

[७] पाश्चात्य अभिनय का स्वरूप :-

पाश्चात्य अभिनय पध्दति में शरीर के बाह्यपक्षपर अधिक बल दिया गया है। यूरोप और अमेरिका के नाट्याचार्य अभिनय के पाँच अंग मानते हैं। जैसे, मुखमुद्रा [जेश्चर] शरीरभंगिमा[पोश्चर], गति [गेट] वेग [स्पीड] और वाणी [स्पीच] "जिसप्रकार भरत ने संपूर्ण अभिनय को शरीर के विभिन्न अंगों की मुद्राओं में परिबध्द और नियमित कर दिया है, उसीप्रकार विदेशों में कोई नाट्य के अभिनय की रिति या पध्दति निर्धारित नहीं है। विदेशी अभिनय शास्त्रीयों का यह मत है कि अभिनय के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए स्वयं लोकही आदर्श है। जैसे सामान्य जीवन में हम लोग उठतें-बैठतें, चलतें-बोलतें, रोतें-धोतें और विभिन्न मानसिक और शारीरिक व्यवहार करते रहतें हैं। वैसे ही अभिनेता को नाटक में व्यवहार करना चाहिए। किंतु इस अनुकरण

अवस्था में पद, लिंग, शारीरिक स्थिति, मानसिक स्थिति, अवसर आदि का ध्यान करके अभिनय की गति व्यवस्थित करनी चाहिए।"[३१]

पाश्चात्य विचारवंतों का ऐसा विचार है कि, "यदि नाटककारने भी अपने पात्र की अवस्था का ध्यान न रखकर कोई ऐसा निर्देश दिया हो जो उस भूमिका के पद अवस्था और परिस्थिति के अनुकूल न हो तो अभिनेता को नाटककार के निर्देश की अपेक्षा करके पात्र की प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए।"[३२] पाश्चात्य और भारतीय अभिनय प्रणाली में जो फर्क है इसका विवरण डॉ. बाबासाहेब पोवार इसप्रकार करते हैं - "जहाँ भारतीय अभिनय पध्दति में अभिनेता के अंतर्गत तथा शरीर का सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार करती है तथा अभिनेता के मूल समग्र आंतरिक भावों तथा रससंबंधी सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है। इस निष्पत्ति तथा साधारणीकरण के सिद्धांतो द्वारा दर्शकों की अंतर्बाह्य स्थिति का भी विचार किया गया है जबकि पाश्चात्य विचारधारा में अभिनय विषयक विवेचन केवल विचाराभिव्यक्ति या चित्तरंजन तक ही सीमित दिखाई देती है।"[३३]

* मुखमुद्रा या भावभंगी [जेश्चर] *

संपूर्ण भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन हमारी मुखमुद्रा या भावभंगी है क्योंकि हम बिना कुछ बोले अपने सिर को नीचे-उपर, दायें-बायें, हिलाकर, नीचे झुकाकर, उपर उठाकर, वैसेही मुख के ओठ, आँख, दाँत आदि मुख के विभिन्न भागों के हलचल से हम अनेक प्रकार के भाव प्रदर्शन करते हैं। इन विभिन्न भावभंगिमाओं के द्वारा सिर्फ भाव का ही प्रदर्शन न हो बल्कि चरित्र का भी उद्‌घाटन होता है। जैसे, एक भौह उठाकर दूसरी भौंह संकुचित करने से कुटिलता स्पष्ट होती है।

मुखमुद्रा के संबंध में पाश्चात्य नाटयशास्त्रियों का कथन है - "कि अपने मुख के समस्त स्नायुओं को ऐसा साध लेना चाहिए कि केवल मुख के विकारों से ही सब भावों को प्रदर्शित किया जा सके। फ्रान्स के प्रसिध्द अभिनेता ने अपने शरीर के स्नायुओं को ऐसा साध लिया था कि भय का भाव प्रदर्शित करते समय उसके सिर के सब बाल खडे हो जाते थे।"[३४]

* शरीर-भंगिमा [पोश्चर] *

जिसप्रकार मुख के विभिन्न भागों को दिखाकर अनेक विभिन्न भावों का प्रदर्शन किया जाता है वैसे ही शरीर के विभिन्न भाग जैसे, कंधे, हात, छाती, पेट, मुट्ठी, उँगली, कमर, नितम्ब, घुटने, पैर आदि भागों के विभिन्न हलचल से हम भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक, शारीरिक, और मानसिक परिस्थितियों तथा भावों का प्रदर्शन किया करतें हैं। "जब मनुष्य एक स्थानपर बैठकर या खड़े होकर शारीरिक भंगिमा करता है तो वह स्थिर या अचल भंगिमा [स्टैटिक पोश्चर] कहलाती है। और जब वह गतिशील होकर, चंचल होकर, आगे पीछे बैठकर या दौड़कर शारीरिक चेष्टा करता है तो वह चलशरीर [डायनॅमिक पोश्चर] कहलाता है।"[अ]

* गति *

अभिनय में गति या चल का भी बड़ा महत्व है। विभिन्न पात्र की भूमिका में अभिनय करनेवाले अभिनेता को विभिन्न गतियों से चलना आवश्यक हो जाता है। चोर, राजा या उच्च श्रेणी के पुरुष, विदूषक, लंगडा या अन्धा, और रोगी, बालक एवं कन्याओं, आदि के गति में भिन्नता होती है, साथ-साथ साधारण टहलना, भय से भागना, क्रोध में आगे बढना, कामातुर आवस्था आदि क्रियाओं में गति भिन्न-भिन्न होति है, वैसे ही स्त्रियों के बारे में है, जैसे., गंभीर और उच्च कुलीन स्त्रियाँ, चंचल युवतियाँ, प्रौढ और भोली-भाली स्त्रियों के गति में भी भिन्नता होती है, अर्थात गति में भूमिका के पद और उसकी मर्यादा के अनुसार अभिनेताओं का रंगमंचपर प्रवेश, रंगमंच से प्रस्थान, परिक्रमा, अर चढना, और नीचेउतरना होता है।

* वाणी *

"यूरोपीय नाटयशास्त्रियों का मत है कि - अभिनेता की अपनी वाणीपर पूरा अधिपत्य होना चाहिए। वह उसे मन्द से तार, कम्पित से स्थिर और गंभीर, साथ-ही भाव के अनुसार उतार-चढाव [इन्टोनेशन भी दिखा सके] उसकी वाणी इतनी सधी हुई होनी चाहिए कि उसे जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करनी हो वह अर्थ और उसका भाव उसकी वाणीसे ही प्रकट हो जाय और यह वाणी दैन्य, प्रार्थना, निवेदन, आदेश, कलह, वितण्ड, तर्जन, आक्षेप, विरोध, स्नेह, प्रेम-प्रदर्शन, लालच, विनय, भान, संकल्प, क्रोध,

ईर्ष्या, उत्सुकता उत्साह, चिंता, भ्रम, आलस्य, उपालंभ, विनोद, परिहास, उपहास, वाग्वैदग्ध, चाटुकारी, व्यंग्य, प्रतिज्ञा, वक्तव्य, गंभीर कथन, शाप और वरदान आदि, विभिन्न भाषों और परिस्थितियों के अनुसार प्रभावशाली ढंगसे समुद्भूत हो सके।"[अ]

परंतु इस बातपर भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि अभिनेता वाक्चेतन [स्पीच कॉन्शास] न बन जाय अर्थात सदा अपनी वाणी के ही फेर में न पड जाय। अभिनेता वाणीपर इतना न ध्यान दे कि उसकी वाणी कृत्रिम बन जाय और स्वाभाविकता लुप्तप्राय हो जाय।

आज-कल जर्मन आदि नाटककार बोलचाल की भाषा को अधिक महत्व दे रहे हैं किंतु उससे वाणी स्वच्छता को धोखा होने की संभावना है। उसीप्रकार "ग्रेनविल बकिर" आदि नाटकार बातचीत की शैली अपना रहे हैं, जिससे नाटक में जो बोलते हैं वह दर्शकों तक नहीं सुनाई दे रहा है और न सुनाई देता है और यह रंगमंच के लिए अभिशाप ही है ऐसा कहने का समय हमारे सामने खडा हुआ है।

* वेग [स्पीड] *

समाधि और शोक की अवस्था, वृध्दता, रोग, श्रान्ती और क्लांति की अवस्था में मन्द, दु:ख, चिंता, आलस्य और विस्मय में मन्द, परंतु भय और ग्लानि में वेगशील और संभ्रम, आकस्मिकआपत्ति, लोभ और आवेग में अत्यंत वेगशील अभिनय-गति होनी आवश्यक है। यह वेग मुखमुद्रा, शरीर भंगिमा, गति और वाणी समान रूपसे आवश्यक और व्याप्त हो।

उपर्युक्त अभिनय के अंगोंसे यह सिध्द होता है कि पोश्चर से हाथ, पैर, मुट्ठी, उंगली, कमर आदि अंगों का संचालन होता है। जेश्चर से मुख के विभिन्न भागों के द्वारा मुद्राओं के भाव प्रदर्शन होते हैं। गेट और स्पीड से अभिप्राय निकलता है अभिनेता की चलने की गति तथा चरित्र की मानसिक दशा के अनुरूप उसकी क्रियाओं, की गतिपर परिणाम होता है, और स्पीच के अंतर्गत भारतीय वाचिक अभिनय का विचार किया हुआ दिखाई देता है।

...

[८] "यथार्थवादी अभिनय तथा स्वाभाविक अभिनय" :-

पाश्चात्य अभिनय परंपरामें यथार्थवाद तथा स्वाभाविक अभिनय प्रणाली का महत्व जादातर दिखाई देता है। भारतीय अभिनय परंपरा की तरह "रस" या भाव के बारे में पाश्चात्य अभिनय में विचार जादातर नहीं किया जाता। पाश्चात्य अभिनय प्रणाली और भारतीय प्रणाली के बीच का अंतर स्पष्ट करते हुए डॉ. अज्ञात लिखते हैं - "भारत की प्राचीन पध्दति का लक्ष्य जीवन और जगत के कार्य व्यापारों और मनो-विकारों के वास्तविक प्रतिबिम्बन के द्वारा रस निष्पति रहा है। पाश्चात्य आचार्य भी यदयपि शृंगार, हास्य और करुण जैसे मूल रसों के सुभिज्ञ रहे हैं। किंतु इस निष्पति को साध्यरूपमें स्वीकार करने भारतीय आचार्यों की भाँति उसके विस्तृत विवेचन में नहीं उतरे। यहाँ कारण है कि, नाट्याभिनय के संदर्भ में पारम्पारिक [नाटयधर्मी] एवं कृत्रिम अभिनय से आगे बढकर स्वाभाविक एवं यथार्तवादी अभिनय के आदर्श को उन्होंने अपने सम्मुख रखा। यदयपि समय के साथ अभिनय की यह पध्दति भी पुरानी पड़ चुकी है।" [३७]

[९] "मुखौटों के कारण भडकीला अभिनय" :-

पाश्चात्य अभिनयपर युनान की प्राचीन अभिनय परंपरा का प्रभाव दूर तक रहा। मुखौटों के प्रयोग के कारण हाथ और पैर के संचालन द्वारा भावाभिव्यक्ति होती थी। तत्कालीन पुरुष अभिनेता ही स्त्री चरित्रों का अभिनय करते थे। साथ-साथ उस समय युरोपीय नाट्य कथाओं में चरित्रों की संख्या बढने लगी और भड़कीलापन अनायास आने लगा। उसीप्रकार मुखौटों के कारण सात्त्विक अभिनय के लिए भी गुंजाईश नहीं थी, किंतु आगे-आगे समाज का नाटक के साथ करीब का रिश्ता निर्माण होने लगा और मुखौटों का जमाना गायब हो गया और भावाभिव्यक्तिपर जोर बढने लगा।

[१०] "अंधारयुग में यंत्रों की सहाय्यता" :-

धर्ममार्तंडोंद्वारा नाटयकला का निषेध किए जानेपर नाटयकलाका विकास रुक गया परंतु उसके बाद युरोप के लगभग सभी देशों में जैसे, इंग्लड, फ्रान्स, जर्मन आदि के नगरचौकों में तथा धर्मस्थलों के बरामदों में नाटय खेला जाने लगा। परंतु नाटय के खेला जाने में बहुत अंतर पडने के कारण अभिनय कला में भी अंतर पडने लगा। "पंदरवी गति के आते-आते प्रस्तुत नाटकों के चरित्रों निभानेवाले पात्र अभिनेताओं की वेशभूषा भव्य

परिधानयुक्त तथा पार्श्वभूमि में गर्जनयंत्र, पवनयंत्र, वृष्टियंत्र आदि उपकरणों का उपयोग होने लगा। तत्कालीन अभिनेताओं की वाचिक प्रणाली मे कुल अकृत्रिम तथा आंगिक चेष्टाओं में कुछ अतिशयोक्ति दिखाई देने लगी। जिसका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से दर्शकों को हँसना था। अर्थात अभिनय की सहाय्यता के लिए रंगमंचपर यंत्रोंने प्रवेश किया था।"[३८]

[११] शेक्सपियरकालीन लयबध्द वाचिक अभिनय से मोलियर के उत्स्फूर्त अभिनय तक":-

शेक्सपियर के काल में मुखौटों का त्याग किया गया था और अभिनेता भी शरीर और चेहरें के भावभंगिमाओंपर जोर देने लगे, और स्वयं शेक्सपियर ने भी अभिनेता के अभिनयपर अधिक जोर देने लगा और वह मानव स्वभाव के सभी प्रतिनिधि चरित्रों का चित्रण करने लगा। इस काल के संबंध में डॉ. अज्ञात लिखते हैं - "दरबारी अँग्रेजी मंचपर भी अभिनय में कुल सुधार परिलक्षित हो रहा था और संवाद उच्चारण अर्थात वाचिक अभिनयमें कृत्रिमता, शुध्द और स्पष्ट उच्चारण, वाणीमें उतार-चढाव आदि का विशेष ध्यान रखा गया। विशेषकर शेक्सपियर के नाटकों संबंधी सं. १५६४ से सं. १६१६ तक स्वगतों के लिए उच्चस्वर और भावात्मक संवादों के लिए लयात्मक वाचिक अभिनय पध्दति का प्रचलन हुआ।"[३९]

शेक्सपियर ने भी "हेमलेट" के संवाद में श्रेष्ठ अभिनय के तत्वों का समावेश करते हुए बताया है कि - "अभिनय में वाणी और शरीर के अंगों का प्रयोग स्वाभाविक ढंगसे करना चाहिए, अतिरंजित नहीं।" आगे वह कहता है - "मै प्रार्थना करता हूँ कि आप [नाटकीय] संवाद उसी प्रकार कहिए जैसे मैं अपनी जीभ को हलके-हलके चलाते हुए [स्वाभाविक ढंगसे] कह रहा हूँ। किंतु यदि आप उसप्रकार मुँह बनायेंगे जैसे बहुतसे अभिनेता बनाया करते है तो मै समझूँगा कि कोई डुग्गी पिटनेवाला संवाद कह रहा है।"[४०] इसलिए दिखाई देता है कि - "शेक्सपियरने अपने अनेक नाटकों की रचना नाट्य दल के उपलब्ध अभिनेताओं को मद्दे नजर रखकर ही की है।"[४१] आगे इंग्लैंड के ही डेव्हीड गैरिक द्वारा कृत्रिम अभिनय में सुधार किए जानेपर स्वाभाविकतापर अधिक जोर दिया गया। फ्रान्स तथा इंग्लैंड में इसी स्वाभाविक अभिनय शैलीने अपने पैर जमा लिए और दरबारी रंगमंच को धक्का दिया। "फ्रान्स के प्रसिध्द नाटककार मोलियर ने इसी उत्स्फूर्त अभिनयशैली के आधारपर हास्यप्रधान, हास्यमुद्राएँ, सामाजिक सूझबूझ तथा अंग की पध्दतिपर नाट्य रचना की है।"[४२]

आगे बीसवी शताब्दी में अनेक नाट्य विद्यालयों, नाट्यसंस्थाओं और रंग-शालाओं ने अभिनय के संबंध में अनेक नये-नये सिद्धांत प्रतिपादित किए। मार्क्सरीन आर्ट ने जर्मनी मे और पिम्मी गेमिए ने पेरिस में, आन्दे आन्त्वा ने फ्रान्स में, क्रोनेग ने जर्मन मे प्रकृतिवादी [नेचुरालिस्टक] नाट्य अभिनय का प्रचलन किया। आगे इसकाही विकास बर्लीन मे "आटो ब्राहय और मास्को में स्तानिसलावस्की ने किया। किंतु फिर भी अधिकांश फ्रान्सीसी अभिनेता १८ वी शतीमें प्राचीन स्वैरवादी [रोमांटिक] शैली का ही प्रयोग करते रहें।

[१२] स्तानिसलवस्की की यथार्तवादी एवं स्वाभाविक शैली :-

मास्को आर्ट थियटर के प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की ने यथार्थवादी अभिनय शैली की स्वाभाविकता पर जो देकर प्राकृतिक नियमों का प्रचलन किया। उसका सिद्धांत है "कोई भी अभिनेता रंगमंचपर तभी स्वाभाविक और सच्चा हो सकता है जब वह उन आवेगों का प्रदर्शन करे, जिन्हें उसने स्वयं अपने में कभी अनुभव किया हो।"[४३] स्तानिस-लवस्की का कहना है - "हमारी अपेक्षाएँ बीथि सरल स्वाभाविक है और इसी कारण पूर्ण होना कठिन है। हमारी माँग केवली इतनी है कि, अभिनेता प्राकृतिक नियमों के अनुसार जिए। किंतु जिस हालत में उसे जीवित रहना पड़ता है, उस हालत में स्वभाव धर्म के अनुसार प्राकृतिक मानवीय जीवन जीने के बजाय अभिनेता के लिए विकृत रूप में जीना सहज लगता है। इसलिए अभिनेता को चाहिए कि, विकृतीकरण की प्रवृत्ति से लडने के लिए उपयुक्त साधनों का निर्माण करे।यही हमारी पध्दति की नींव है। इस अपरिहार्य विकृति को नष्ठ कर अपनी आंतरिक प्रवृत्ति को सुयोग्य पथपर लाकर उसे कार्य प्रवृत्त करनाही उद्देश्य है। सही आदतें और निरंतर परिश्रम तथा उचित स्वाध्याय के द्वारा ही यह संभव है।"[४४] इसप्रकार यह दिखाई देता है की शेक्सपियर के अनेक नाटकों के पारम्पारिक अभिनय शैलीसे हटकर एक आध्यात्मिक सत्य का निर्देशन कर दिया है।

[१४] व्याख्यात्मक, सृजनशील अभिनय का पुरस्कर्ता - गार्डन क्रेग :-

स्तानिसलवस्की के समकालीन ब्रिटिश रंगनिर्देशक तथा दृश्यसज्जाकार गार्डन क्रेगने अभिनय संबंधी मंचीय तत्वों की पृष्ठभूमि में महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किया। उनके मतानुसार स्वाभाविकता से काव्यरस की व्याख्या संभव नहीं थी। क्रेग जीवंत मानव

- उद्देगों की सरल, सशक्त, गहरी समुन्नत तथा सुंदर अभिव्यक्ति की रचनापर जोर देना चाहते थे। निर्देशक के लिए अपेक्षित परिणाम देने में असमर्थ अभिनेता के स्थानपर कठपुतलियों द्वारा अभिनय करना उन्हें पसंद था। क्योंकि बुरे अभिनेताओं की तरह कटपुतलियों में न बुरी आदतें होती है न बुरी भाव-भंगिमाएं, न उनका मुँह रंगाना पडता है न वाणीमें अतिशयता होती है, न आत्मा की क्षुद्रता होती है, न निरर्थक महत्त्वाकांक्षा। अथात क्रेग व्याख्यात्मक सृजनात्मक अभिनय का पुरस्कर्ता था और उसने तत्कालीन प्रतिभाहीन किंतु महत्त्वाकांक्षी अभिनेता का डटकर विरोध किया। क्रेग ने व्याख्यात्मक अभिनय सृजनात्मक निर्देशन तथा त्रिमुनीय दृश्योंवाले जिवंत रंगशिल्प का समन्वय कर अभिनेता के लिए एक नवीन मंचीय परिवेश भी प्रदान किया।

[१५] "प्रतीकवादी अभिनय का उद्धाता "मेयर होल्ड" :-

स्तानिसलावस्की के सिद्धांत के विरुध्द प्रतीकवादियों [सिम्बॉलिस्टस्], रीतिवादियों [फॉर्मेलिस्टस्] और अभिव्यंजनावादियों [एक्स्प्रेशनिस्टस्] ने एक नयी रीति चलायी, जिसमें सत्यता और जीवन तुल्यता का पूर्ण बहिष्कार करके कहा गया है कि - "अभिनय जितनाही कम वास्तविक और जीवन असुलभ होगा उतना ही अच्छा होगा। अभिनेता को निश्चित चरित करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे चाहिए कि नाटक के गूढ विचारों को रूढ रीतिसे अपनी-वाणी, चेष्टा और मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करे और वह भी रूढ और जीवन-साम्यहीन, चित्रमय और कठपुतलीनृत्य की शैली में प्रस्तुत करें।"[४५] ऐसे ही प्रतीकवादी के उद्धाता है "मेयर होल्ड"। तायरोफ, अरविन, पिस्काटर आदि अन्य उसके पुरस्कर्ता है।

इन उपरोक्त नाटककारोंनें रीत्यानुकूल, कलात्मक अभिव्यक्ति का अंश जोडकर प्रेक्षक तथा अभिनेता के बीचका अंतर समाप्त कर दिया। अनावश्यक रूपसज्जा तथा परिधानों का भी त्याग किया। मंच से चित्रित पर्दे हटाकर, गोलाकार, चित्रकोणी, चौकोनी लकडी के दृश्यबंधो का आयोजन किया। भावों के कार्यव्यापार के लिए कुछ निश्चित मुद्राओं का प्रतीक के रूप में उपयोग हुआ। जैसे, लॅम्पपोस्ट, बिजली के खंबे, आदि प्रतीकों के द्वारा सडक या गाँव का बोध दिया जाने लगा। कभी-कभी पात्र ही प्रतीक बन गए।

[१६] "ब्रेख्त की निर्लिप्त अभिनय शैली" :-

जर्मनी के ब्रेख्त द्वारा अभिव्यंजनावादी नाटकों के कारण एक "महाकाव्यात्मक"

अभिनय शैली का उदय हुआ। तटस्थता तथा निर्लिप्तता इस शैली की विशेषता है। उनके मतानुसार मंचपर अभिनेता को एक साथ अभिनेता तथा चरित्र का निर्वाह करना आना चाहिए। जैसे अभिनेता स्वयं मंचपर रहकर यह दर्शाए कि, उसके विचार से पात्र क्या और कैसे कह रहा होगा। ब्रेख्त के मतानुसार नाटक और मंच का मुख्य कार्य कथा का उद्घाटन और समुचित तटस्थताकारी उपायों द्वारा संप्रेषण है। उनका यह विश्वास था कि केवल अभिनेताओं के माध्यम से ही नहीं सभी मंचीय तत्वों के समन्वय से यह संभव है। इसीकारण उनकी अभिनय शैली में काव्य, संगीत, लोकभाषा तथा लोकधुनों का प्रभाव एवं समन्वय रहा। वाचक या कोरस के माध्यमसे गत घटनाओं का संकेत देना महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका प्रचलन ब्रेख्त के द्वारा हुआ है।

उपरोक्त अभिनय शैली के साथ-साथ समय-समयपर परिवर्तन हुआ। प्राय: सभी युरोपीय तथा अमेरिकी रंगशालाओं में प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अभिनय में कोई नवीनता और मौलिकता दिखाकर लोगों को आनंद प्रदान करें। प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी की वह अपने प्रतिभा का प्रयोग करके, प्रत्येक परिस्थितिमें अपने अभिनय का ऐसा संयोजन करे कि बस्स। हर एक नाटक की कुछ विशेष चेतना और सजीवता उत्पन्न हो सकें। इसीलिए आज-कल इन प्रचलित पध्दति के विरोध में तो कभी आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन दिखाई देता है। साथही प्रभाववादी, कल्पनावादी, प्रहसनात्मक, अतियथार्थवादी, असंगतनाटक, वृत्तनाटक आदि प्रकार के नाटक विकसित होते हुए दिखाई देते है[९]।

[१७] वर्तमान के अभिनय का स्वरूप :-

वर्तमान युगमें अभिनय के अनुकरण में कड़ा विरोध दिखाई देता है। आज-कल के अनेक मान्यवर अभिनेताओं का मत है - किसीभी अभिनेता को किसी भी अभिनेता का अथवा अभिनय पध्दति का अनुकरण नहीं करना चाहिए। इस संबंध में श्रीमती पैट्रिक कैम्पल तो "अभिनय की पध्दति चलाने के विरुद्ध है। वे ऐसे अभिनेता से बहुत चिढती है जो उनका या किसी अन्य अभिनेता का अनुकरण करके अभिनय करते है।"[४६] और आज कल बहुत से अभिनेता, संचालक इसी मत के है कि - "अच्छे अभिनेता को संसार के सब नाटकों की सब भूमिकाओं के लिए तैयार रहना चाहिए और यदि यह न हो सके तो अपनी प्रकृति के अनुसार भूमिकाओं के लिए निश्चित प्रणाली ढूँढ निकालनी चाहिए और तदनुसार अपने को स्वयं शिक्षित करते चलना चाहिए।"[४७]

...

आज तक अनेक नाट्य विद्वानोनें अपनी-अपनी प्रतिभा शक्ति के जोरपर अनेक प्रकार की अभिनय प्रणालियाँ स्थापित कर चुके है। जैसे ब्रेख्त की निर्लिप्त अभिनय प्रणाली, मेयर होल्ड की प्रतीकवादी प्रणाली, अथा स्तानिसलावस्की की यथार्थवादी प्रणाली। परंतु आज अभिनय की जो प्रणाली शुरू है अथवा आज के नाट्याचार्यों का मत है कि - "नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए अभिनेता को बहुत अधिक प्रकृतिवादी होना चाहिए और न अधिक अभिव्यंजनावादी। अंतिरंजित अभिनय तो कभी करना ही नहीं चाहिए। [४८]

आज-कल पाश्चात्य अभिनय प्रणाली में "चरित्राभिनय" की नीति भी चल रही है, जिसमें एक अभिनेता किसी विशेष प्रकार के चरित्र के अभिनय में कौशाल प्राप्त कर रहें हैं और सब नाटको में उसी प्रकार की भूमिका कर रहें हैं। चलचित्रों के कारण "चरित्र अभिनेता" [कैरेक्टर ॲक्टर] बहुत बढते जा रहे है, परंतु यह चरित्र अभिनय अत्यंत हीन है क्योंकि इससे कला की व्यापकता में संकुचितता बढती है।

डॉ. बाबासाहेब पोवार अपने शोधप्रबंध में वर्तमान अभिनय स्वरूप के बारे में लिखते हैं - "वर्तमान अभिनय पध्दति में अनेक कारणोंसे परिवर्तन दिखाई देता है। जैसे मानो विज्ञान के आधारपर चरित्र का अध्ययन तथा नाटककार द्वारा अभिनय के लिए विशिष्ट स्थानों का निर्माण, नाटक के अनेक मंचीय तत्वों के द्वारा चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन आदि की योजना, वर्तमान अभिनेता को नाटक के पठन, मनन, चिंतन, नाटक के विवेचित विषय संबंधी जानकारी, चर्चा आदि के उपरांत चरित का कथ्य, कथावस्तु का मंचीय स्वरूप, नाम, आयु, व्यवसाय, ज्ञान, अर्थ, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर तथा मंचीय तत्वों से उनका संबंध तथा चरित्र के उद्घाटन में नाटयतत्वों का नाटककार द्वारा आधार लिया गया है अथवा नहीं इसका अध्ययन, संवादों का पठन, स्मरण, कृतियों का संवादो से तालमेल, अभिनय संबंधी नाटककार की अपेक्षा, निर्देशक की अपेक्षा, अपनी क्षामता, नाटक के कथावस्तु के अनुरूप आवश्यक अनुभूतियों के लिए निरीक्षण, अवलोकन, चरित्र के मंचीय स्वरूप की दृष्टि से उसके गुण-अवगुण, अवगुणोंपर विजय पाने का प्रयास, अभिनय की दृष्टि से शरीर, वाणी का उपयोग तथा तत्परता, अन्य मंचीय तत्वों से सहयोग, मंचसंबंधी आवश्यक प्रशिक्षण तथा नाटककार निर्देशक आदि सृजनशील तत्वों की अपेक्षाओं की पूर्ति के साथ-साथ उपभोक्ता वर्ग का पूरा समाधान करना आदि को प्रधानता देनी पड़ती है। अनेक प्रतिभाशाली अभिनेता अपनी नूतन अभिनय शैलियो के आधारपर प्राचीन मान्यताओं

...

एवं मंचीय सीमाओं को लाँघते नजर आ रहे है।"[४९]

निष्कर्ष रूपमें हम यह कह सकते है कि अभिनय एक प्रवृत्तिमूलक कला है। अर्थात अभिनय मानव पग-पगपर करता ही है परंतु नाटक का "अभिनय" इस रूपमें जब हम देखतें हैं तो यह एक "परकाया प्रवेश" है किंतु उसके लिए बडी गंभीरता और गहराई के साथ अध्ययन की भी आवश्यकता है। क्योंकि किसी नाटककार के विचार सही रूपमें और सही ढंगसे दर्शकों तक पहुँचाने के लिए आंगिक अभिनय के साथ वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय का भी विचार करना पड़ता है।

भारतीय अभिनय परंपरा में आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य ये चार अभिनय के प्रकार प्रकट हुए हैं तो पाश्चात्य अभिनय प्रणाली में मुखमुद्रा, शरीर भंगिमा गति, वाणी, वेग आदि महत्त्वपूर्ण गुण उभर आए हैं। परंतु पाश्चात्य अभिनय प्रणाली में अनेक नाट्याचार्योंने अपनी एक अलग-सी अभिनय शैली बनाने की कोशिश की है जैसे - शेक्सपियर का लयबध्द वाचिक अभिनय, स्तानिसलवस्की का यथार्थवादी अभिनय, ग्राईन क्रेग का व्याख्यात्मक सृजनशील अभिनय, मेयर होल्ड का प्रतीकवादी अभिनय और ब्रेख्त का निर्लिप्त अभिनय।

इसप्रकार आज भी अनेक अभिनेता अपनी एक अभिनय शैली बना रहे हैं। परंतु साथ ही प्रत्येक अभिनेता को अलग-अलग प्रकार की भूमिकाओं के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए यह विचार भी रूढ़ है।

* "टिप्पणियाँ" *

अध्याय दूसरा : अभिनय स्वरूप निर्धारण और अंग।

०१. रघुवर दयाल वाष्णेय, रंगमंच की भूमिका और हिन्दी नाटक, पृ. १५३, सं. १९७९।

०२. रमेश राजहंस, नाट्य प्रस्तुति का परिचय, पृ. ५२, सं. १९८७।

०३. वही, पृ. ५२।

०४. वही, पृ. ५३।

०५. गजानन जहागिरदार, अभिनय कला करावा ? पृ. २७-२८, सं. १९९३।

०६. वही, पृ. २८।

०७. वही, पृ. २८।

०८. वही, पृ. १४८-१४९।

०९. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में रंगमंचियता, पृ. ९२, सं. १९९४, से उद्धृत।

१०. वही, पृ. ९२ से उद्धृत।

११. डॉ. सुषमा पाल मल्होत्रा, प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच से उद्धृत, पृ. ३०।

१२. प्रा. यशवंत केळकर, नाट्यनिर्मिति, पृ. ६९, सं. १९९५।

१३. जीवनप्रकाश जोशी, नाटककार मोहन राकेश, पृ. १८, सं. ।

१४. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. २२८, सं. १९६४।

१५. वही, पृ. २२८।

१६. वही, पृ. २४२।

१७. वही, पृ. २४३।

१८. वही, पृ. २४३।

१९. वही, पृ. ३६२।

२०. वही, पृ. ३४५।

२१. महेश उपाध्ये, मोहन राकेश के नाटकों में अभिनेयता, पृ. २४, सं. १९९५।

२२. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. २४१।

२३. वही, पृ. ३८७।

...

२४. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, पृ. ९४।

२५. महेश उपाध्ये, मोहन राकेश के नाटकों में अभिनेयता पृ. २५।

२६. सुषमा पाल मल्होत्रा, प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच, पृ. ३१, ३२।

२७. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता पृ. ९५।

२८. वही से उद्धृत पृ. ९५।

२९. वही, से उद्धृत पृ. ९५।

३०. वही, पृ. ९६।

३१. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच पृ. ३६३।

३२. वही, पृ. ३६३।

३३. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, पृ. ९६।

३४. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. ३६४।

३५. वही, पृ. ३६५।

३६. वही, पृ. ३६६-३६७।

३७. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, से उद्धृत पृ. ९९।

३८. वही से उद्धृत, पृ. ९७।

३९. वही से उद्धृत, पृ. ९७।

४०. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. २४५।

४१. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, पृ. ९८।

४२. वही, पृ. ९८।

४३. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. २४६-२४७।

४४. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, पृ. ९९।

४५. पं. सिताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. २४७।

४६. वही, पृ. २४९।

४७. वही, पृ. २४९।

४८. वही, पृ. २४९।

४९. डॉ. बाबासाहेब पोवार, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के नाटको में रंगमंचियता, पृ. १०१।